बिगड़े; मुनि उसप्रकार आचरण करते हैं। वे शौच के लिए भाव शुद्धि, वाक् शुद्धि, काय शुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, भिक्षा शुद्धि, विनय-संश्रय शुद्धि, शयनासन शुद्धि, व्युत्सर्ग शुद्धि—इन आठ शुद्धिओं का पालन करते हैं।

इन पाँचों समितिओं से संवर होता है ।।५।।

अब, संवर के कारणभूत धर्म के दश भेद कहते हैं—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रम्हचर्याणि धर्मः ।।६।।

—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रंहचर्य—ये धर्म हैं ।।६।।

उत्तम क्षमा : उत्तम=भली-भाँति, सम्यक्त्व-सहित, लोक में प्रशंसनीय, महान, सबसे बड़ा; क्षमा=आहार के लिए पर-घर में गमन करते हुए मुनि को कोई दुष्ट व्यक्ति खोटे वचन कहता है, उपहास करता है, अवज्ञा करता है, ताड़ना करता है, शरीर का घात करता है इत्यादि रूप में क्रोध उत्पन्न होने के कारण बनने पर भी चित्त में क्रोध रूप कलुषता उत्पन्न नहीं होना, क्षमा है। किसी के द्वारा प्राण-रहित किए जाने पर भी उसके प्रति द्वेष नहीं कर समता भाव ही रखना, उत्तम क्षमा है; अथवा क्रोध कषाय के अभाव में आत्मा का शांत स्वभाव प्रगट हो जाना, उत्तम क्षमा है।

मोहनीय कर्म के एक भेद क्रोध कषाय के संयोग में आत्मा अनादि काल से मलिन हो रहा है। इस क्रोध बैरी को जीतना ही क्षमा है। यह क्रोध-बैरी इस जीव को सुख के स्थानभूत सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप निराकुलतामई भाव को अग्नि के समान दग्ध कर देता है; संतोषरूप संयम भाव को बिगाड़ देता है; यश को मूल से नष्ट कर अपयश को प्रगट करता है; धर्म-अधर्म का विचार नष्ट हो जाता है।

क्रोधी के अपने मन, वचन, काय भी अपने वश में नहीं रहते हैं। यह दीर्घ-कालीन प्रीति को भी एक क्षण मात्र में बिगाड़ देता है। वह लोक में निंद्य भील, चांडाल, कषायी आदि द्वारा बोले जाने वाले असत्य वचन भी बोलता है; अन्य द्वारा किए गए उपकार को भूलकर कृतघ्नी हो धर्म का लोप करता है। क्रोध में वह अपने पिता, पुत्र, माता, भगिनी, स्वामी, सेवक, मित्र, स्त्री आदि को भी मारकर प्राण-रहित कर देता है। तीव्र क्रोधी विष, शस्त्रादि से अपना भी घात कर लेता है; ऊँचे मकान, पर्वतादि पर से गिर जाता है; नदी, कूप में डूब जाता है।

क्रोधी ज्ञान-दर्शनमई अपने शांत स्वभाव रूप गुण का घात सतत करता ही रहता है; कर्म के वश अन्य जीवों का घात हो या नहीं हो, स्वयं तो पापी हो ही गया। इसके प्रभाव से महा तपस्वी दिगंबर मुनि भी धर्म से भ्रष्ट हो दुर्गति प्राप्त करते हैं। इसकी मंदता में मिथ्यादृष्टि जीव भी सुगति प्राप्त करता है। यह क्रोध, दोनों लोक भ्रष्ट करता है।

दोनों लोक सुधरने की योग्यता वाले के ही क्षमा गुण प्रगट होता है। पृथ्वी के समान सहन करने का स्वभाव, क्षमा है। जैसे—पृथ्वी छेदने, भेदने, कूटने, अग्नि से जलाने, फावड़े से खोदने, विष्टा-मूत्र आदि अशुचि वस्तु डालने पर भी रोष नहीं करती है; उसी प्रकार पर-कृत दुःख को सम-भाव से सहन कर लेना, क्षमा है।

सम्यक्त्व-संपन्न जो जीव अपने हिताहित को भली-भाँति समझकर, स्वयं अधिक सामर्थ्य-

संपन्न होने पर भी बल-रहित अन्य असमर्थ व्यक्तिओं द्वारा किए गए उपद्रवों को राग-द्वेष-रहित हो सहन करता है, उनमें सम-भाव रखता है, विकार रूप परिणमित नहीं होता है, वह उत्तम क्षमा है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान का साथ बताने के लिए यहाँ 'उत्तम' पद का प्रयोग है। इन सहित उत्तम क्षमा तीन लोक में सार है, संसार-समुद्र से पार उतारने वाली है, दुर्गति के दु:खों का हरण करने वाली है। सम्यक् रत्नत्रय-संपन्न होने से इसके साथ अनेक गुण प्रगट हो जाते हैं। यह मुनीश्वरों को अति प्यारी है।

क्रोध को जीतने का उपाय : जब कोई हमें दुर्वचन आदि कहकर दु:खी करना चाहता है, गाली देता है, चोर बताता है, अन्यायी, पापी, दुराचारी, दुष्ट कहता है; नीच, कृतघ्नी, चांडाल, कषायी, मूर्ख, बावला, चोर, जार, ठग, बटमार, कपटी, भेषी, धर्म-द्रोही, राज-द्रोही इत्यादि अनेक प्रकार के खोटे वचन बोलता है; उस समय ज्ञानी विचार करता है कि मैंने अपराध किया है या नहीं। यदि किया है; मोह, राग, द्वेष के वशीभूत हो इसे दुखी किया है, तो मैं अपराधी ही हूँ। इसका मुझे, गाली देना, चोर, नीच, कपटी, पापी कहना, उचित ही है। यह तो मुझे और भी अधिक दंड देता तो भी योग्य था। मैंने इसके प्रति अपराध किया है; मुझे रोष करना, उचित नहीं है।

अपराधी को तो नरक में दु:ख भोगना पड़ता है। मेरे कारण इसे दु:ख हुआ है; अत: यह मुझे गाली दे रहा है इत्यादि चिंतन द्वारा अपने भाव, क्लेश रूप नहीं करता है। यदि गाली देने वाला व्यक्ति मंद-कषायी हो तो स्वयं उसके निकट जाकर वह ऐसा कहता है कि मैंने अज्ञान, प्रमाद, कषाय के वश आपको दुखी किया है। अब मैं अपने अपराध की क्षमा-याचना करता हूँ। आगे ऐसा कार्य नहीं करूँगा। एक बार भूल हो जाने वाले व्यक्ति की भूल को महा-पुरुष क्षमा कर देते हैं। इसप्रकार उससे क्षमा-ग्रहण कराता है।

यदि गाली देने वाला व्यक्ति न्याय-रहित, अति तीव्र-कषायी है तो उससे अपराध की क्षमा माँगने के लिए तत्काल नहीं जाए। कालांतर में जब उसका क्रोध उपशांत हो जाए; तब जाकर उससे क्षमा-याचना करे।

किसी के प्रति कुछ भी अपराध किए विना ही यदि कोई ईर्ष्या-भाव पूर्वक अपनी दुष्टता से खोटे, बुरे वचन कहता है; अनेक मिथ्या दोष लगाता है; तब ज्ञानी विचार करता है कि मैंने इसकी जगह दबाई हो, धन-हरण किया हो, आजीविका बिगाड़ी हो, चुगली की हो, बुरा-खोटा कहा हो इत्यादि अपराध किया हो तो मुझे पश्चाताप करना, उचित है और यदि मैंने अपराध नहीं किया है तो मुझे उस पर विचार करना, योग्य नहीं है।

यह व्यक्ति मेरा नाम लेकर, कुल बताकर खोटे वचन कह रहा है; वे तो नाम और कुल के लिए हैं। ये नाम, कुल, जाति आदि मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं तो ज्ञायक स्वरूपी चेतनामय हूँ। जिसे यह कह रहा है, वह मैं नहीं हूँ; जो मैं हूँ, वहाँ वचन पहुँचते नहीं हैं; अत: मुझे क्षमा धारण करना ही योग्य है।

खोटे वचन बोलने वाला यह व्यक्ति अपने ही अभिप्राय पूर्वक अपने मुख से बोल रहा है। जिव्हा, दंत, ओष्ठ, तालु आदि उसके ही हिले हैं। इसके परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल शब्द रूप परिणमित हो रहे हैं। उन्हें सुनकर यदि मैं विकार करूँ, तो यह मेरी महा अज्ञानता है। ईर्ष्या भाव पूर्वक यह दुष्ट व्यक्ति मुझे गाली दे रहा है। यदि स्वभाव से देखें तो गाली कुछ वस्तु ही नहीं है। गाली मुझे कहीं भी लगी हुई दिखाई नहीं दे रही है।

जो यह मुझे चोर, अन्यायी, कपटी, पापी इत्यादि अनेक प्रकार के खोटे वचन बोल रहा है। उनमें से पहले मैं अनेक बार चोर हुआ हूँ; अनेक बार भील, चांडाल, चमार, कषायी, धीवर आदि नीच कुलों में जन्मा हूँ, गधी, सुअरी, कुत्ती आदि के उदर में गया हूँ; अत: यदि अभी कोई मुझे चोर, चांडाल, गधा, सुअर, कुत्ता, कृतघ्नी, अधर्मी, पापी आदि कह रहा है तो उसमें क्लेश करना, महा अनर्थ है।

यह जो मुझे खोटे वचन कह रहा है, उसमें इसका कुछ दोष नहीं है। मेरे ही पूर्व जन्म-कृत कर्म का उदय है। इसके खोटे वचन कहने से मेरे कर्मों की निर्जरा हो रही है, यह मुझे बड़ा लाभ है; अत: यह मेरा उपकारी है। यह खोटे वचन कहकर अपने पुण्य को नष्ट कर रहा है, मेरे पाप दूर कर रहा है—ऐसे उपकारी व्यक्ति के प्रति यदि मैं रोष करता हूँ तो मेरे समान पापी, कोई अन्य नहीं है।

अथवा यह मुझे गाली ही तो दे रहा है, मार तो नहीं रहा है। क्रोध में तो मारने भी लगते हैं। क्रोधी व्यक्ति अपने पुत्र, पुत्री, स्त्री आदि को भी मारता है। यह मुझे मार नहीं रहा है, यही लाभ है।

यदि कोई दुष्ट मारने लगता है, तब ज्ञानी विचार करता है कि यह मुझे मार ही तो रहा है, प्राण-रहित तो नहीं कर रहा है। दुष्ट तो प्राण-रहित भी कर देते हैं; मुझे यही लाभ है। हाथ, पैर आदि के माध्यम से मेरे शरीर को मारने-पीटने के कारण मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ा; परन्तु इसे चोट लगी होगी; यह इसका बुरा हुआ।

यदि कोई प्राण-रहित करता है; तब ज्ञानी विचार करता है कि एक बार तो मरण होना ही था; हम यहाँ कर्म के ऋण से मुक्त हो गए। हमारा धर्म तो नहीं बिगड़ा; प्राण-धारणा तो धर्म से ही सफल होती है। द्रव्य प्राण तो पुद्गलमय होने से वे मेरे हैं ही नहीं; सुख, सत्ता, चैतन्य, बोधरूप मेरे भाव प्राण का किसी के द्वारा घात हो ही नहीं सकता है—यह मुझे बड़ा लाभ है। इसप्रकार उत्तम क्षमा रूप धर्म की प्राप्ति होने से बाह्य द्रव्य प्राणों का नाश हो जाने पर भी मुझे बड़ा लाभ है।

अथवा कल्याण रूप कार्य में तो अनेक विघ्न आते ही हैं; मैं इनमें सम-भाव धारण करूँगा। उपद्रव आने पर क्षमा को छोड़कर यदि मैं विकारी भाव करूँगा; तो मुझे देखकर अन्य मंद-ज्ञानी, त्यागी, तपस्वी धर्म में शिथिल हो जाएंगे; तब तो मेरा जन्म ही व्यर्थ हुआ; अत: धन, अभिमान नष्ट होने; प्राण जाने पर भी मुझे क्षमा-धारण करना, योग्य है। मैंने पहले जो अशुभ कर्म किए हैं, उनका फल तो मैं ही भोगूँगा; ये अन्य प्राणी तो उनमें निमित्त मात्र हैं।

अथवा इनके निमित्त से यह पाप का उदय नहीं आता, तो किसी अन्य के निमित्त से उदय में आता। कर्म तो फल दिए विना टलता नहीं है। ये अज्ञानी जीव मुझ पर क्रोध कर रहे हैं; यदि मैं भी इनको खोटे वचनों में उत्तर दूँगा; तो मैं तत्त्व-ज्ञानी और ये अज्ञानी—दोनों समान हुए; मेरा तत्त्व-ज्ञानी होना निरर्थक हुआ।

ये दुष्ट-जीव क्रोधरूपी अग्नि से मेरी सम-भाव रूपी संपदा दग्ध करना चाहते हैं; अत: अब मुझे सम-भाव धारण करना, उचित है। मेरे पूर्व-कर्म के उदय से ये दुष्ट बैरी उत्पन्न हुए हैं। इनकी निमित्तता में मेरे असाता कर्म का उदय आया है। उसे क्लेशित होकर भोगने पर तो असाता कर्म छोड़ेगा नहीं। दु:ख तो भोगना ही पड़ेगा, इसके साथ ही आगामी नवीन असाता कर्म का बंध और हो जाएगा; अत: होने वाले दु:खों के प्रति नि:शंकित हो सम-भाव रूप रहना, योग्य है।

अथवा ये दुष्ट बैरी मेरे सम-भाव की परीक्षा लेने के लिए प्रगट हुए हैं। वे अपने पुण्य-कर्म को नष्ट कर मेरे आगामी पुण्य-कर्म को उत्पन्न करने में निमित्त हो रहे हैं। यदि ये मेरा इलाज नहीं करते; मुझे दंड नहीं देते; तो मैं अशुभ कर्म से कैसे छूटता ? इन्होंने मेरा बड़ा उपकार किया है। इसप्रकार ज्ञानी जीव तो क्लेश के कारण उपस्थित होने पर भी अपने पूर्व कर्म का नाश होता देखकर आनंदित रहते हैं।

लोक में कुछ ऐसे परोपकारी व्यक्ति होते हैं, जो दूसरों के सुख-हेतु अपना धन खर्च करते हैं; अन्य का दु:ख दूर करने के लिए अपनी लक्ष्मी, जमीन, जगह देते हैं; शरीर ढकने को कपड़े देते हैं। यह तो मुझे दुर्वचन कहने से ही सुखी हो रहा है; इसके समान मुझे और क्या लाभ है ? मेरे कारण कोई प्राणी दु:खी मत हो। अपने अशुभ कर्म के उदय में अन्य प्राणिओं को दोष देना, महा मूर्खता है; अत: क्षमा धारण करना ही योग्य है।

मैंने संसार से पार करने वाला वीतरागी धर्म धारण किया है। अब यदि सम-भाव को छोड़कर क्लेश करूँगा; तो क्रोध रूपी अग्नि में भस्म हो संसार-समुद्र में डूब जाऊँगा; अत: क्रोध रूपी अग्नि को सम-भाव रूपी जल से बुझाना, योग्य है।

ज्ञानी-जन दुष्ट पुरुषों को न्यायरूप धर्म के मार्ग से समझाते हैं, क्षमा-ग्रहण कराते हैं। उनके क्षमा-ग्रहण नहीं करने पर ज्ञानी-जन रोष नहीं करते हैं। जैसे—वैद्य अपनी औषधि आदि से किसी का विष दूर करता है। यदि वह दूर नहीं हो तो वह ऐसा सोचकर स्वयं तो जहर नहीं खाता है कि इसका जहर दूर नहीं हुआ है; अत: मैं जहर भक्षण कर मरता हूँ। यह न्याय भी नहीं है।

उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी दुष्ट व्यक्ति की जाति को पहिचान कर पहले तो यह निर्णय करने का प्रयास करते हैं कि यह दुष्टता छोड़ेगा या नहीं या अधिक दुष्टता धारण करेगा। यदि उन्हें वह अधिक विपरीत होता दिखाई देता है; तो उपदेश नहीं देते हैं। यदि समझने की योग्यता वाला लगता है, तो न्याय-सहित हित-मितरूप वचन कहते हैं। यदि वह समझाने पर भी दुष्टता नहीं छोड़ता है, तो स्वयं क्रोधी नहीं होते हैं। अपने भाव समता रूप ही रखते हैं।

अथवा यदि मेरे प्रति खोटे वचन कहने से ही इसे सुख मिलता है, तो इसमें मेरा क्या बुरा है ? मेरे महा भाग्य का उदय है जो मैं इतने काल से वीतरागी धर्म को धारण किए हूँ। अब क्रोध के इस निमित्त से मेरी परीक्षा की घड़ी है कि मुझे साम्य-भाव है कि नहीं। दुष्ट पुरुष के कुवचन श्रवण कर भी नहीं छूटने वाला, दृढ रहने वाला साम्य-भाव ही प्रशंसनीय है। उपद्रव आए विना तो सभी व्यक्ति क्षमा के धारी हैं; परंतु वास्तव में तो क्रोध का निमित्त होने पर भी सम-भाव रखना, क्षमा है।

जैसे—चंदन के वृक्ष को कुल्हाड़ी से काटने पर भी वह कुल्हाड़ी के मुख को सुगंधित ही करता है; उसी प्रकार उत्तम क्षमा रूप प्रवृत्ति वाला ही मोक्ष को साधता है। मैं तो समस्त जीवों के प्रति राग-द्वेष से रहित हो अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव में स्थिर हूँ। अन्य-जन मुझे बुरा कहें या भला कहें; उससे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है। मेरे भाव दोष-सहित होने पर मुझे भला कहने पर भी मेरा भला नहीं होगा और यदि मेरे भाव दोष-रहित हैं, तो बैर भाव-वश बुरा कहने पर भी मेरा बुरा नहीं होगा।

अपनी-अपनी करनी के अनुसार ही बुरा-भला फल मिलता है; जो जैसा आचरण करेगा, वह उसके अनुसार फल पाएगा। दुष्ट तो पर के दोष कहने में ही सुख मानते हैं; अत: दुष्ट पुरुष मेरे झूँठे

दोष भी घर-घर प्रगट कर सुखी हों। धन के अर्थी मेरा धन लेकर सुखी हों। प्राण लेने के अर्थी प्राण लेकर सुखी हों। जमीन, जगह आदि स्थान लेने का इच्छुक स्थान ले जाए। मैं सम्पूर्ण पर-द्रव्यों के प्रति राग-द्वेष-रहित हूँ।

मुझ आत्मा के ज्ञान-दर्शनमय स्वभाव का तो कभी, किसी से भी नाश नहीं होता है; अत: जगत के समस्त प्राणी मेरे निमित्त से सदा सुखी ही रहें; मेरे कारण किसी भी जीव को किसी भी प्रकार का दु:ख नहीं हो—यह मेरी भावना है। मेरा यह भव, आयु कर्म के अधीन है; धन-संपदा पुण्य-पाप के अधीन है; अत: हमारा किसी जीव से बैर-विरोध नहीं है। मेरा समस्त जीवों के प्रति क्षमा-भाव है।

प्राण-रहित करने वाले से भी कटुक वचन कहना, योग्य नहीं है। मारने वाले के प्रति भी अंतरंग से बैर-भाव छोड़कर इसप्रकार मिष्ट वचन बोले कि आप तो हमारे रक्षक ही हैं। अब मेरे इस आयु कर्म का क्षय निकट है; इसमें आप क्या कर सकते हैं ? मेरा बड़ा भाग्य कि आपके हाथ से यह हो रहा है। आपके समान उत्तम पुरुष यदि मुझ अपराधी को दंड नहीं देंगे तो मार्ग मलिन हो जाएगा। इस पाप का फल आगे मुझे नरक, तिर्यंच गति में भोगना पड़ता; आपने मुझे यहाँ ही ऋण-मुक्त कर दिया। आप मेरे बड़े उपकारी हैं।

अब मैं आपके प्रति मन, वचन, काय पूर्वक बैर-भाव छोड़कर क्षमा-भाव धारण करता हूँ। आप भी मुझे दंड दे क्षमा ही धारण करेंगे। यह क्षमा जीव की रक्षा करने के लिए माता के समान है। जिन-धर्म का मूल है। सभी गुण इसके आधार से हैं। यह कर्म-निर्जरा की कारण है। मारने वाले में भी बैर-भाव त्याग कर समता रूप रहना, उत्तम क्षमा है।

उत्तम मार्दव : जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल, धन इत्यादि की विद्यमानता में मद नहीं होना तथा अपमानादि में दीन-हीन नहीं होना, उत्तम मार्दव है। सम्यग्दृष्टि जीव सोचता है कि माता के पक्ष रूप जातिओं में से मैं अनेक बार चांडाली, भीलणी, चमारी, डूमणी, नटणी, वेश्या, दासी, धीवरी आदि नीच जाति वाली माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ हूँ; अनेक बार गधी, सूअरी, कुत्ती, स्यालनी आदि के गर्भ से उत्पन्न हुआ हूँ।

अनंत बार नीच जाति पाने के बाद एक बार उच्च जाति प्राप्त होती है; उसे भी अनंत बार पाया है। ये दोनों ही जाति मेरा स्वभाव नहीं हैं; पुद्गलमई विनाशीक हैं; अत: जाति का गर्व करना, उचित नहीं है।

पिता के पक्ष रूप ऊँचे-नीचे कुल भी अनेक बार प्राप्त हुए हैं। पंचेंद्रिय तिर्यंच भी मरकर देव गति के देव हो जाते हैं। उत्तम कुल का धारी मनुष्य भी मरण कर चांडाल, राजा भी विष्टा का कीड़ा इत्यादि रूप में सभी उच्च-नीच कुल में जन्म लेते रहते हैं। ये सभी पौद्गलिक, विनाशीक हैं। माता के रुधिर और पिता के वीर्य से उत्पन्न हुईं ये दशाएं, मेरा स्वभाव नहीं हैं; अत: कुल का गर्व करना भी उचित नहीं है।

राज्य-वैभव तो राग-द्वेष में निमित्त हो आत्मा को संसार में डुबा देता है। बड़े-बड़े इंद्रों का भी मरण होता है। इसका सदा काल संयोग नहीं रहता है। जब बलभद्र, नारायण का ऐश्वर्य भी क्षण मात्र में नष्ट हो गया; भरत चक्रवर्ती का मान जाता रहा; तब फिर अन्य क्षुद्र पुरुषों की तो क्या कथा ? यह

राज्य-वैभव मेरा स्वभाव नहीं है; पौद्गलिक कर्म के अधीन है; निर्ग्रंथ दशा ही तीन लोक में पूज्य है; अत: ऐश्वर्य का भी गर्व करना, उचित नहीं है।

शरीर की सुंदरता, पुद्गल का विकार है; वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस रूप को तो रोग, शोक, जरा, दारिद्र्य, महा कुरूप कर देते हैं। इस हड्डी, चर्म की देह में रागी होकर रूप का मद करना, महा अनर्थ है।

कुछ विशेष प्रगट हुआ श्रुत-ज्ञान इंद्रियों के अधीन, विनाशीक है। मेरा स्वभाव तो केवल ज्ञानमई अविनाशी है। यह इंद्रिय-जनित ज्ञान एक क्षण में वात, पित्त, कफ, श्रोणित, ज्वर आदि के विकार से चंचल हो जाता है; इस भव के साथ ही नष्ट भी हो जाता है। आत्म-ज्ञान-रहित श्रुत-ज्ञान की प्राप्ति होना भी निष्फल है। ग्यारह अंग, नौ पूर्व पर्यंत का ज्ञान प्राप्त कर भी अभव्य जीव संसार में ही परिभ्रमण करता है। सम्यग्दर्शन के विना व्याकरण, छंद, अलंकार, काव्य-कोश आदि अनेक शास्त्रों को पढ़कर; खोटे काव्य, खोटी कथाओं की रचना कर अनेक जीवों को विपरीत रूप मिथ्या धर्म में लगाकर स्वयं भी संसार में डूबे हैं; अत: ज्ञान मद करना, उचित नहीं है।

तपश्चरण तो शरीराधीन है। पहले मुझसे भी बड़े-बड़े तपस्वी हो गए हैं। तप का मद करने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है; अत: तप का मद करना भी योग्य नहीं है।

मेरे काय में प्रगट हुआ बल कर्माधीन, विनाशीक है। यदि मैं इस यौवन के बल को पाकर अन्य निर्बल अनाथ जीवों को मारूँगा; उनकी जमीन, जगह दबा लूँगा, धन हरण करूँगा, आजीविका बिगाड़ दूँगा, कुशील-सेवन करूँगा; तो मुझे नरक में अनेक दु:ख भोगने पड़ेंगे। रोग, वेदना के आने पर बहुत बलवान व्यक्ति भी एक क्षण में निर्बल हो जाता है; अत: शारीरिक बल का गर्व करना, योग्य नहीं है।

मुझे प्राप्त हुई यह लक्ष्मी, पुण्याधीन होने से, स्थिर नहीं है, विनाशीक है। जैसे—अरहट की रिक्त घड़ी भरती है, भरी रिक्त होती है; उसी प्रकार सांसारिक लक्ष्मी क्षणभंगुर है। इसका अभिमान करने वाला मूर्ख है। यह मनुष्य तो एक ही भव में अनेक दशाएं धारण कर लेता है; अत: धन का गर्व करना, योग्य नहीं है।

इन आठ मद-रहित कोमलता रूप आत्मा का परिणाम, उत्तम मार्दव है।

उत्तम आर्जव : मन, वचन, काय संबंधी वक्रता से रहित सरल, सीधा भाव, उत्तम आर्जव है। मायाचारी व्यक्ति के हृदय में गुण स्थिर नहीं रहते हैं। निश्चल व्यक्ति के हृदय में अनेक गुण रहते हैं। लोक में मायाचारी व्यक्ति को कपटी, पापी कहते हैं। उसका तप, व्रत करना भी वृथा है; क्योंकि शल्य-रहित ही व्रती होता है। आत्माराधना के कारण व्यक्त हुई मन की पवित्रता, वचनों में झलकना, काय से उसके अनुकूल ही क्रिया होना, उत्तम आर्जव धर्म है।

उत्तम शौच : पर-धन, पर-स्त्री की अभिलाषा का अभाव; छह-काय के जीवों की हिंसा का अभाव, सभी प्रकार के लोभ का त्याग, उत्तम शौच है। लोभ से आत्मा के परिणाम राग-द्वेषमय मलिन रहते हैं। इसके मुख्य चार भेद हैं - १.अपने और स्त्री, पुत्र, पुत्री, मित्रादि पर के **जीवन का लोभ**; २.अपने और स्त्री आदि पर के **निरोग रहने का लोभ**; ३.अपनी तथा स्त्री आदि पर की **इंद्रियाँ बनी रहने का लोभ**; ४.अपने और स्त्री आदि पर को **उपभोग्य वस्तु मिलने का लोभ**।

इन चारों लोभों का अभाव हो पवित्रता प्रगट होना, उत्तम शौच धर्म है।

उत्तम सत्य : मुनि, श्रावक के मध्य समीचीन रूप निर्दोष वचन बोलना, वचन सत्य है। उसके जनपद, संवृत्ति, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीति, व्यवहार, संभावना, उपमा, भाव—ये दश भेद हैं। असत्य-वादी की कोई प्रतीति नहीं करता है। माता, पिता, पत्नी, पुत्र, मित्रादि भी उसका विश्वास नहीं करते हैं। लोक का समस्त व्यवहार वचनों के ही अधीन है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थ ही बिगड़ जाते हैं। सत्य-वादी का वचन लोग मानते हैं; उसका आदर करते हैं; अत: प्राण जाने पर भी अन्य को पीड़ा-कारी वचन नहीं बोलना चाहिए। वचन व्यवहार से मुक्त हो अपने सत् स्वभावी आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई सत्यार्थ निराकुल दशा, उत्तम सत्य धर्म है।

उत्तम संयम : ईर्या समिति आदि में प्रवृत्ति करते हुए मुनि के द्वारा प्राणिओं की रक्षा होना, इंद्रियों के विषयों संबंधी राग का परिहार होना, संयम है। इसके दो भेद हैं—१.छह काय के जीवों की हिंसा का सर्वथा अभाव, **प्राणी-संयम** और २.पाँच इंद्रिय-मन संबंधी विषय-प्रवृत्ति रोकना, **इंद्रिय संयम** है। इसके उपेक्षा संयम और अपहृत संयम—ये दो भेद भी हैं। उत्तम संहनन के धारी, राग-द्वेष से रहित हो तीन गुप्ति पूर्वक देश-काल की विधि के ज्ञाता हो देह की पूर्ण उपेक्षा कर स्वरूप में स्थिर रहना, **उपेक्षा संयम** है।

अपहृत संयम के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य—ये तीन भेद हैं। प्रासुक वसतिका, शुद्ध आहार मात्र ही बाह्य साधन ग्रहण करने वाले; स्वाधीनता पूर्वक ज्ञान-चारित्र की प्रवृत्ति करने वाले; गमन, आसन, शयन आदि क्रिया में किसी अन्य जीव के आ जाने पर उसे पीड़ा दिए विना स्वयं ही उस क्षेत्र से हट जाने वाले भाव, उत्कृष्ट अपहृत संयम हैं। मयूर-पंख/पीछी आदि कोमल उपकरण से उस जीव को वहाँ से उठाकर अन्य स्थान पर रखने आदि वाले भाव, मध्यम अपहृत संयम हैं। पीछी आदि अन्य उपकरण से टालकर उसे अपने स्थान से दूर किसी निर्बाध स्थान पर रख देना, जघन्य अपहृत संयम है।

इस अपहृत संयम का पालन करने के लिए मुनि इन आठ प्रकार की शुद्धि को धारण करते हैं—१.सदा काल प्रमाद-रहित हो सम्यग्दर्शनादि गुण-सहित परिणाम होना, **भाव शुद्धि** है; २.तत्काल जन्मे बालक के समान आवरण-रहित, शांत, मूर्ति, निर्विकार, तपरूपी लक्ष्मी से भूषित शरीर, **काय शुद्धि** है; ३.सूर्य के प्रकाश में अपनी दोनों भुजाएं नीचे की ओर लंबित कर, यत्नाचार पूर्वक गमन करना, **ईर्यापथ शुद्धि** है। ४.मल-मूत्र की बाधा को दूरकर अगले-पिछले अंग-प्रदेश को माँज-धोकर; लाभ, अलाभ, मान, अपमान में सम-बुद्धि वाले मुनि का चंद्रमा की गति के समान धनवान, निर्धन के घर जाकर, छ्यालीस दोष-रहित, बत्तीस अंतराय और चौदह मल दोषों को टालते हुए शुद्ध आहार लेना, **भिक्षा शुद्धि** है। ५.आठ मद से रहित हो, नम्रीभूत होना, पंच-परमेष्ठी की भक्ति करना, आचार्य की आज्ञानुसार चलना, **विनय शुद्धि** है।

६.अपने केश, नख, नासिका-मल, कफ, विष्टा, मूत्र आदि शारीरिक मल का; जहाँ मार्ग में आने-जाने वाले के भाव नहीं बिगड़ें तथा मनुष्य-तिर्यंच के निवास-स्थान-विना, जीव-रहित शुद्ध पृथ्वी के एकांत स्थान में क्षेपण करना, **मल प्रतिष्ठापन शुद्धि** है। ७.स्त्री, नीच व्यक्ति, चोर, मद्यपाई, जुआरी, वेश्या, शिकारी आदि पापी जीवों से रहित; गिरि की गुफा, शून्य घर, स्वयं के

लिए नहीं की गई, एकांत स्थान वाली प्रासुक वसतिका; पर्वत के शिखर, बालू-रेत के टीले आदि शुद्ध भूमि में आलस्य रूप खेद को दूर करने के लिए अल्प शयन करना, पड़ना, बैठना, **शयनाशन शुद्धि** है। ८.पीड़ा, आरंभ, कठोरता, कषाय-रहित, राग-द्वेष को नष्ट करने वाले; व्रत, शील, संयम-सहित; स्व-पर का हित करने के लिए धर्म के उपदेशरूप वचन कहना, **वाक्शुद्धि** है।

इन आठ शुद्धिओं से पंचाचार पुष्ट होते हैं। इसप्रकार प्राणी-हिंसा और इंद्रिय-विषयों से उपयोग सीमित कर आत्मा में संयमित होना, उत्तम संयम धर्म है।

उत्तम तप : जिससे कर्मों का क्षय हो, वह तप है। तपरूपी अग्नि के विना कर्मरूपी ईंधन भस्म नहीं होता है। जैसे—अग्नि से तपाया हुआ सुवर्ण किट्ट-कालिमा रूपी मल को छोड़कर शुद्ध हो जाता है; उसी प्रकार तप रूपी अग्नि में तपा आत्मा कर्म-मल से रहित, शुद्ध हो जाता है। तप-विना संसार से छूटना सम्भव नहीं है। तपस्विओं के साधना-स्थल भी तीर्थ हो जाते हैं। तप से अनेक ऋद्धिआँ प्रगट हो जाती हैं। इससे ही कर्मों का नाश हो मोक्ष प्राप्त होता है। बारह प्रकार के तप तपते हुए आत्मा में प्रतापवंत रहना, उत्तम तप धर्म है।

उत्तम त्याग : संयमी के योग्य औषधि, शास्त्र, अभय, आहार का दान देते हुए अपनी निकटवर्ती वस्तुओं का त्याग करना, उनमें राग-द्वेष नहीं होना, त्याग है। परिग्रह के त्याग से व्यक्ति का हित होता है; उसका त्यागी, सदा काल सुखी रहता है; उसके भाव उज्ज्वल रहते हैं। परिग्रह की आशा महा बलवान और सभी दोषों को उत्पन्न करने की खान है। जैसे—समुद्र, नदी के जल से तृप्त नहीं होता है; उसी प्रकार संसारी जीव, परिग्रह से तृप्त नहीं होता है। आशारूपी गड्ढे को कौन भर सकता है ? इसमें तीन लोक की समस्त वस्तुएं डालने पर भी वह रिक्त ही रहता है। बड़वानल के समान वह दिन-प्रतिदिन बड़ता ही जाता है।

संसारी जीव विषय की वांछा से सदा काल दु:ख ही भोगता है। संतोष रूपी जल से परिग्रह की चाह रूपी अग्नि शांत करना, योग्य है। परिग्रह के त्यागरूप संतोष भाव से ही जीव सुख प्राप्त करता है। चेतन, अचेतन रूप समस्त परिग्रह से निवृत्त, रहित हो; आत्म-स्वरूप में स्थिर होना, उत्तम त्याग धर्म है।

उत्तम आकिंचन्य : चौदह प्रकार के अंतरंग और दश प्रकार के बाह्य—इन चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित अपने आत्मा में लीन होना, आकिंचन्य है। आत्मा का भाव, पर-वस्तु में राग-द्वेष से रहित है। शरीरादि परिग्रह के विद्यमान रहने पर भी 'यह शरीर मेरा है' इत्यादि ममत्व भाव का अभाव होना, आकिंचन्य है। शरीरादि परिग्रह में ममत्व नहीं करने वाला जीव ही परम सुखी है। ममत्व-भाव वाला जीव सदा काल दुखी ही रहता है। इसप्रकार समस्त परिग्रह की ममता को छोड़कर अपने स्वभाव में स्थिर रहना, उत्तम आकिंचन्य धर्म है।

उत्तम ब्रंहचर्य : पूर्व भोगे भोगों को याद नहीं कर, स्त्री-कथा का श्रवण नहीं कर; स्त्रिओं के स्थान पर शयन-आसन नहीं कर स्वेच्छा से स्वच्छंद प्रवृत्ति रोकते हुए ब्रंह रूप अपने आत्मा में चर्या करना, प्रवृत्ति करना, अपने शुद्ध चैतन्य स्वभाव में स्थिर रहना, ब्रंहचर्य है। इससे हिंसा संबंधी सभी दोष नष्ट होकर, समस्त गुण-संपदा प्रगट हो जाती है।

स्त्री के अभिलाषी पुरुष को अनेक आपदाएं आती हैं। स्त्री राग-भाव की खान है, आत्मा के

स्वरूप को भुलाने वाली और संसार की बीज है; आत्मा को पर-वस्तु में लगाती है। रूपवती सुंदर स्त्री के हाव, भाव, विभ्रम, विलास को देखकर मोहित होने वाले जीव अपने आत्मा का घात कर पाप को निकट बुलाते हैं। जीव की विभाव परिणति होने में स्त्री निमित्त है; अत: स्त्री-मात्र का सर्वथा त्याग कर शाश्वत आत्मा में स्थिर रहना, उत्तम ब्रंहचर्य धर्म है।

धर्म के ये दश लक्षण हैं। वस्तु का स्वभाव, धर्म है। विश्व की कोई भी वस्तु अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती है। उसके स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता है। स्वभाव का अभाव होने पर वस्तु का ही अभाव हो जाएगा; परन्तु वस्तु का अभाव तीन काल में भी नहीं होता है; अत: प्रत्येक वस्तु सदा अपने स्वभाव में ही अवस्थित है। आत्मा का स्वभाव सदा क्षमा आदि ज्ञान-दर्शनमय चैतन्य गुणरूप है। उसमें क्रोधादि, कर्म-जनित उपाधि है। आत्मा का आश्रय लेने पर कर्म-जनित उपाधिमय क्रोधादि का अभाव हो जाने से आत्मा का क्षमादि रूप स्वभाव सहज ही रह जाता है।

इसप्रकार क्रोध के अभाव में क्षमा, मान के अभाव में मार्दव, माया के अभाव में आर्जव, लोभ के अभाव में शौच, मिथ्या के अभाव में सत्य, अव्रत के अभाव में संयम, इच्छा के अभाव में तप, परिग्रह में राग-द्वेष घटाने से त्याग, पर-वस्तु में ममत्व घटाने से आकिंचन्य, पंचेंद्रिय विषय-भोग का त्याग करने से ब्रंहचर्य गुण प्रगट होता है।

इसी प्रकार सभी जीवों की रक्षा करने से दयामई धर्म प्रगट होता है। यह धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है। जैसे—जड़-विना वृक्ष नहीं ठहरता है; उसी प्रकार दया-विना धर्म नहीं रहता है। मोक्षरूपी महल पर चड़ने के लिए दया, सीड़ी के समान है। जिसके हृदय में दया नहीं, वह निर्दयी पापी व्यक्ति है। उसे अपने शुद्धात्मा का अनुभव कैसे होगा ? दया में ही वस्तु-स्वभाव की प्राप्ति होने से दया पालने वाला ही आत्मानुभव कर सकता है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय रत्नत्रय धर्म भी वस्तु का स्वभाव ही है; क्योंकि आत्मा का स्वभाव दर्शन-ज्ञानमय है और इस स्वभाव में लीन होना ही चारित्र है।

इसप्रकार दयारूप धर्म, दशलक्षणरूप धर्म, सम्यक् रत्नत्रयरूप धर्म और वस्तु के स्वभावरूप धर्म—इन चारों में अपनी आत्म-वस्तु के स्वभाव का ही अवलंबन होने के कारण ये चारों एक ही हैं। सभी का प्रयोजन मोक्ष-प्राप्ति ही है। यहाँ संवर का प्रकरण होने से दश धर्म को मुख्य किया है। इनमें से कुछ भेद गुप्ति, समिति में गर्भित होने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं लगता है।

जैसे—गुप्ति आदि की रक्षा के लिए ऐर्यापथिक, रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, औत्तमार्थिक—इन सात प्रतिक्रमण का उपदेश है; उसी प्रकार इन धर्मों का पृथक् उपदेश जानना। यद्यपि भाषा समिति में सत्य धर्म गर्भित है और भी अनेक धर्म गुप्ति, समिति में गर्भित हैं; तथापि गुप्ति, समिति का विशेष रूप से पालन करने के लिए दश धर्मों का पृथक् से प्ररूपण है।

अथवा मन, वचन, काय संबंधी संपूर्ण प्रवृत्ति को रोकने के लिए सर्व-प्रथम तीन गुप्ति का निरूपण है। गुप्ति में असमर्थ होने पर कुछ प्रवृत्ति के इच्छुक जीव को यत्न पूर्वक प्रवृत्ति करने के लिए पाँच समिति बताई गई हैं। उनका पालन करने वाले मुनि को प्रमाद दूर करने-हेतु दश प्रकार के धर्म का उपदेश है।

धर्म के साथ लगा 'उत्तम' विशेषण; ख्याति, लाभ, पूजा, सत्कार, बड़ाई आदि इस लोक संबंधी दृष्ट प्रयोजन का निषेध करने के लिए है। वांछा-रहित धर्म का पालन करना ही उत्तम है। धर्म संवर का कारण है—इस विशेष अर्थ की सिद्धि भी 'उत्तम' विशेषण से होती है। इसे प्रत्येक के साथ जोड़ने पर उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रंहचर्य—ये धर्म के लक्षण हैं—यह सूत्र का अर्थ हुआ।

ये दश धर्म; अविरत-सम्यक्त्वी, देश-संयमी, सकल-संयमी—इन दशाओं में क्रोधादि की निवृत्ति के अनुपात में गुणस्थानानुसार वृद्धिंगत होते हैं; परंतु यहाँ मुनि की प्रधानता से उनका निरूपण है ।।६।।

अब, संवर के कारणभूत अनुप्रेक्षा के बारह भेद बताते हैं—

अनित्याशरण-सन्सारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव-सम्वर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।।७।।—अपने नामानुसार अर्थ वाले अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ धर्म के स्वरूप का बारम्बार चिंतन, अनुप्रेक्षा है ।।७।।

१.अनित्य : संसार में इंद्रिय के विषय, भोग, धन, लक्ष्मी, जीतव्य, यौवन आदि जल-बुद-बुद के समान अस्थिर हैं। आत्मा के साथ लगे हुए शरीरादि उपात्त पुद्गलों और आत्मा से पृथक् क्षेत्र में स्थित जमीन, जायजाद, धन, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, सुवर्ण, चाँदी आदि अनुपात्त पुद्गलों का संयोग से वियोग होना, अनित्यत्व है।

संसारी आत्मा द्वारा रागादि भावों के अनुसार ग्रहण किए ज्ञानावरणादि अष्टकर्म और औदारिक आदि पाँच शरीर रूप नोकर्म पुद्गल, उपात्त तथा परमाणु से लेकर स्कंध पर्यंत बाह्य पुद्गल, अनुपात्त द्रव्य कहलाते हैं। इन दोनों का स्वभाव से ही संयोग-वियोग रूप होना, अनित्यता है।

शरीर और इंद्रियों की भोग-उपभोगमय विषय-वस्तुएं एकत्रित हुए जल के बुद-बुद-समान चंचल होने से क्षण-मात्र में नष्ट हो जाती हैं। संसारी जीव की गर्भ, जन्म, यौवन आदि अवस्थाएं सदा काल संयोग-वियोगमय हैं। अज्ञानी जीव मोह-वश इन्हें नित्य मानता है। अपने लिए अपने ज्ञान-दर्शनमय उपयोग स्वभाव को छोड़कर अन्य किसी भी वस्तु का संयोग ध्रुव नहीं है। सभी कुछ अस्थिर है।

जन्म, मरण-सहित; यौवन, जरा/बुढ़ापा-सहित; लक्ष्मी विनाशीक है। स्त्री, पुत्र आदि इष्ट वस्तु का संयोग, वियोग-सहित है। इंद्रिय संबंधी विषय-भोग, इंद्र-धनुष के समान चंचल होने से देखते-देखते ही नष्ट हो जाते हैं। इंद्रियों की शक्ति दिन-प्रतिदिन घटती चली जाती है। अनेक प्रकार के भोजन, पान, स्नान, सुगंध, वस्त्र, आभूषण, तिलक आदि द्वारा बहुत लालन-पालन की गई देह भी क्षण-मात्र में नष्ट हो जाती है।

अन्य क्षुद्र व्यक्तिओं की तो क्या बात? चक्री के भी लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती है। भरत चक्रवर्ती ने षाठ हजार वर्ष पर्यंत दिग्विजय कर संपूर्ण भरत क्षेत्र के छह खंड की लक्ष्मी को अपना बनाया था। वह क्षण भर में बाहुबली के पास चली गई। बाहुबली ने उसे छोड़ दिया; पुनः भरत के पास आकर